मार्जरी साइक्स का यह लेख गांधी जी द्वारा प्रस्तावित बुनियादी शिक्षा पर चली बहस और जमीनी स्तर पर उसके व्यवहार के एक कालखंड (1937–1944) का दस्तावेज है। यह वह कालखंड है जब बुनियादी शिक्षा को लेकर तमाम तरह के सवाल उठाए जा रहे थे और स्वयं गांधी और उनके समर्थक इस बहस में सक्रिय रूप से शामिल थे।

राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा 1937-1944

मार्जरी साइक्स

गांधीजी के दोस्त जमनालाल बजाज वर्धा की मारवाड़ी शिक्षण समिति के अध्यक्ष थे, जो 1937 में अपनी रजत जयंती मनाने की तैयारी कर रही थी। वह समिति एक हाई स्कूल भी चलाती थी जिसका नाम नव भारत विद्यालय था और जिसके प्रधानाचार्य श्रीलंका के एक तमिल शिक्षाविद् ई. डब्ल्यू. आर्यनायकम् थे। आर्यनायकम् पहले रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ शांतिनिकेतन में काम कर चुके थे और उनकी शादी एक प्रतिभाशाली शिक्षार्थी आशा देवी के साथ हुई थी, जिनके परिवार के भी शांतिनिकेतन के साथ घनिष्ठ संबंध थे। समिति के सचिव श्रीमन्नारायण ने आर्यनायकम् की पूरी सहमति के साथ यह सुझाव रखा कि जयंती के मौके पर गांधीजी के शैक्षिक विचारों पर बातचीत करने के लिए एक राष्ट्रीय शैक्षिक सम्मेलन किया जाए। श्रीमन्नारायण इस प्रस्ताव को गांधीजी के सामने पहले ही रखकर उनसे इस सम्मेलन की अध्यक्षता करने की अनुमति ले चुके थे।

22-23 अक्टूबर, 1937 सम्मेलन वर्धा में हुआ। भागीदारों की संख्या सीमित थी। बुलावा उन आदमियों और औरतों को भेजा गया था जो सचमुच भारतीय शिक्षा के साथ अपने सरोकारों के लिए जाने जाते थे और राष्ट्रवादी संस्थानों जैसे, जामिया मिलिया इस्लामिया, गुजरात विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ और मौसुलीपट्नम की आंध्र जटिया कलाशाला; नई-नई बनी कुछ प्रांतीय (प्रोविन्सियल) सरकारों के कुछ मंत्रियों और अधिकारियों को भी शामिल किया गया। भागीदारों की सीमित संख्या और उनकी गुणवत्ता की वजह से सम्मेलन काफी प्रभावी साबित हुआ और सीधे कार्यवाही करने की ओर बढ़ा।

गांधीजी ने सम्मेलन के सामने नीचे लिखे वे प्रस्ताव रखे जिनका सारांश वे पहले उसी महीने के हरिजन में पेश कर चुके थे : 'सात साल या उससे ज्यादा चलने वाली प्राथमिक शिक्षा, और अंग्रेजी के सिवा सभी विषयों को मैट्रिक के स्तर तक शामिल करने वाली और इसके साथ कोई काम जो लड़के और लड़कियों के दिमागों को ज्ञान के खानों या डिब्बों से बाहर निकालने का माध्यम बन सके, उसे आज जो प्राथमिक, उच्च प्राथमिक और माध्यमिक के नाम पर जो चल रहा है उसकी जगह लेनी चाहिए। समग्रता में ऐसी शिक्षा को आत्म-निर्भर हो सकना और जरूर होना चाहिए, आत्म-निर्भरता असलियत में उसकी अग्नि परीक्षा है।'

उन्होंने कहा कि उनकी अपने विचार किसी पर थोपने की कोई इच्छा नहीं है और उन्होंने 'आजादख्याली और खुले दिल से आलोचना' को आमंत्रित किया क्योंकि वे पैदा हुई गलतफहमियों के बारे में फिक्रमंद थे और उन्हें दूर करना चाहते थे। उदाहरण के लिए, यह कहा गया था कि वे अदबी तालीम के विरोधी थे, कि इसमें बच्चे का 'शोषण' किया जाएगा, कि उन्होंने अपनी योजना में 'धार्मिक शिक्षण' यानी 'दीनी तालीम' को शामिल नहीं किया। उनके भाषण में ऐसे कई बिंदुओं का जिक्र किया गया था, जो

लेखक परिचय

1905 में इंग्लैण्ड में जन्मी मार्जरी साइक्स ने केम्ब्रिज के न्यूनहेम कॉलेज से अंग्रेजी विषय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद 1928-39 तक मद्रास के बेनटिक स्कूल में शिक्षण किया। यहीं रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन से परिचय हुआ और 1939-41 तक शांतिनिकेतन में काम किया। गांधी के सेवाग्राम आश्रम में 1949-59 तक कार्य किया। 1979-88 तक मध्यप्रदेश के स्वयंसेवी संगठन- फ्रेंड्स रूरल सेन्टर, रसूलिया की बोर्ड की सदस्य रहीं और इस संगठन को मार्गदर्शन एवं सहयोग प्रदान किया।

पचास साल बाद आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं : 'शिक्षा की मौजूदा व्यवस्था न सिर्फ फिजूलखर्ची वाली है बल्कि सचमुच ही नुकसानदायक भी है। लड़के अपने अभिभावकों से, अपने गांवों से, अपने पारंपरिक कौशलों से बिछुड़ जाते हैं। वे बेचारगी में छोटे-मोटे बाबूगिरी वाले कामों पर निर्भर हो जाते हैं और तो और बुरी आदतें और शहरी नकचढ़ापन अपना लेते हैं और गांव में किए जाने वाले खरे शारीरिक श्रम को, जिन पर हम सभी निर्भर करते हैं, घटिया समझने लगते हैं।'

'अदबी तालीम का विरोध करने से अलग या दूर रहकर, मैं आपको इसे छोड़ देने को रास्ता दिखाना चाहता हूं... हमारे बच्चों को हमारी संस्कृति का असली नुमाइंदा बनाने के लिए, हमारे देश की सचमुच की प्रतिभा बनाने के लिए, जहां तक 'शोषण' की बात है तो क्या जब हम बच्चों को तबाही से बचाते हैं तो हम उन पर बोझ डाल रहे हैं ? बच्चे आत्म-विश्वासी और बहादुर बनेंगे जब वे खुद की मेहनत से अपनी शिक्षा का मूल्य चुकाने में मदद करेंगे, मैंने धार्मिक शिक्षा पर जोर क्यों नहीं दिया ? क्योंकि ये व्यवस्था हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी के लिए है और मैं उनको सभी व्यवहारिक धर्म सिखाऊंगा, अपनी मदद आप करने का धर्म पूरी योजना अहिंसा से उभर कर आएगी। वह अहिंसा और सत्य के अनुशासन का ही हिस्सा होगी।'

इसके बाद हुई बहस विचारों के मामले में बेहद समृद्ध रही। विनोबा भावे ने, जो उन दिनों नलवाड़ी आश्रम को चला रहे थे, गांधीजी की इस विवादास्पद दलील का पुरजोर समर्थन किया कि छोटे बच्चों के लिए तकली कातना शैक्षिक संभावनाओं से भरपूर है (लेखक को खुद का चकरा जाना याद है। कैम्ब्रिज में सामाजिक इतिहास के अध्ययनों में बहुत सारा जिक्र आता था, जिसमें बहुत सारी प्राचीन पुरातत्व कालीन जगहों पर 'कतई के चक्के या चकरियां' पाए जाने का उल्लेख था। बहुत साल बाद उसे यह जानकर अचरज हुआ कि वे पत्थर या मिट्टी के छोटी चकरियां दरअसल पुरातन तकलियों की चकरियां थीं जिनकी बांस या लकड़ी की डंडियां बहुत पहले ही सड़ गल चुकी थीं)।

काका साहब कालेलकर के द्वारा कहे गए भरत वाक्य आने वाले सालों में और ज्यादा सार्थक होते नजर आए। उन्होंने कहा था, 'शिक्षा को कक्षा की चारदीवारी से छुड़ाने की जरूरत है... अपनी शिक्षा में खुद अपने स्कूलीकरण को दखलंदाजी न करने दें। (सरकार के अंदर और बाहर कितने सारे लोग आज भी सोचते हैं कि 'शिक्षा' और 'स्कूलीकरण' एक ही चीज है!) आशा देवी बतलाती हैं कि टैगोर की ही तरह गांधीजी के विचार भी कुछ अंशों में प्राचीन भारतीय गुरुकुल से लिए गए थे और यदि हमें उन पर सृजनात्मक ढंग से काम करना है तो हमें बहुत सारे सीखे हुए को अनसीखा करना पड़ेगा और एकदम ताजा शुरुआत करनी पड़ेगी। इस सम्मेलन में नीचे लिखे प्रस्ताव पारित किए गए :

1. राष्ट्रीय स्तर पर सात साला मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा दी जाए।
2. शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होना चाहिए।
3. शिक्षा की पूरी प्रक्रिया इस दौरान किसी हस्तशिल्प और उत्पादक काम के इर्द-गिर्द होनी चाहिए और बाकी सभी गतिविधियां व जहां तक संभव हो प्रशिक्षण भी इस तरह विकसित किया जाना चाहिए जो कि किसी केन्द्रीय दस्तकारी के साथ समग्रता से गुंथा हो, ऐसी दस्तकारी जिसे बच्चे के परिवेश को ध्यान में रखकर चुना गया हो- जिससे कि उस दस्तकारी के उत्पाद धीरे-धीरे शिक्षकों के मेहनताने की भरपाई कर सकें।

ये सभी पारित प्रस्ताव अगली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की फरवरी-मार्च, 1938 में हुई सालाना बैठक में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तौर पर मंजूर कर लिए गए। यह घोषणा की गई, 'तमाम राष्ट्रीय प्रगति आखिरकार जनता को मुहैया करवाई गई शिक्षा के तरीकों, विषयवस्तु और उद्देश्यों पर निर्भर करती है। हिन्दुस्तानी तालीम संघ के नाम से एक स्वाधीन राष्ट्रीय शैक्षिक परिषद् की स्थापना की गई। जिसका काम व्यावहारिक कार्यक्रम का विकास करने के लिए मार्गदर्शन करना और उसे दिशा-निर्देश देना था।

पचास सालों के बाद 'राष्ट्रीय शिक्षा' की इस तस्वीर को पीछे मुड़कर देखना, किसी को भी ऊपर दिए चारों बिंदुओं में से हरेक के बारे में कुछ सवाल करने के लिए उकसा सकता है। पहला बिंदु इस बात की निशानदेही करने में असफल है कि बचपन के कौनसे सात साल इसमें शामिल किए गए हैं। गांधीजी स्पष्ट थे कि सातवां साल शुरुआत करने के लिए एकदम सही है। इस उम्र तक बच्चे की मांसपेशीय समन्वयन की ताकतें पर्याप्त रूप से इतनी विकसित हो चुकी होती हैं कि वे दस्तकारी के कौशलों में आनंद उठा सकें। परन्तु भारत के बड़े इलाके में बच्चे को छठे या पांचवें साल की उम्र में भी विद्यालय भेजने का रिवाज है और जब यह रिवाज बुनियादी विद्यालयों में अपनाया गया तो यह मोह भंग और मायूसी की ओर ले गया क्योंकि बच्चे परिपक्वता के लिए जरूरी स्तर पर तब तक पहुंचे नहीं थे (हमारे आधुनिक 'अंग्रेजी माध्यम' के नर्सरी विद्यालय बच्चों को ऐसी चीजें सीखने के लिए मजबूर करने के ज्यादा चमचमाते उदाहरण हैं जिनके लिए वे अभी अपरिपक्व हैं और जो उनके लिए बहुत नुकसानदायक हो सकता है- तीन साल के छोटे बच्चों से वर्णमाला में निपुण होने की उम्मीद की जाती है!)।

सात साल का वक्फा बहुत जल्दी शुरू होता है और जल्द ही खत्म भी हो जाता है। गांधीजी ने न सिर्फ चौदहवें साल को पाठ्यक्रम को पूरा करने का जल्द से जल्द मंजूरी लायक समय माना बल्कि कई बार घोषणा भी की थी कि वे खुशी-खुशी स्कूली शिक्षा को

पंद्रहवें या सोलहवें साल तक बढ़ाने के लिए राजी हैं। तालीमी संघ ने खुद भी इस बात की सिफारिश की थी कि उम्र का दायरा सात से सोलह के बीच मंजूर किया जाना चाहिए। यह मनु की प्राचीन बातों से भी जुड़ती हैं, जिसका इस्तेमाल सोलहवें साल को जिम्मेदारीपूर्ण बालिग जिंदगी का प्रवेश द्वार मानते हुए विनोबा भावे ने गांधीजी के शैक्षिक चिंतन को आगे बढ़ाते हुए किया था। क्या यह सही वक्त नहीं है कि शिक्षाविद् थोड़ा ज्यादा गंभीरता के साथ इस सवाल पर विचार करें ?

सम्मेलन में पारित पहले प्रस्ताव से एक दूसरा, और बिल्कुल ही अलग तरह का सवाल खड़ा होता है : क्या शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए ? 'क्या किसी भी तरह की 'लाचारी या मजबूरी' गांधीजी के समग्र दृष्टिकोण के खिलाफ नहीं जाती : 'सभी अनिवार्यताएं मेरे लिए घृणित हैं'। उन्होंने **यंग इंडिया** (14-8-1924) में लिखा था, 'ऐसे आपत्तिजनक तरीकों से मुझे ऐसा राष्ट्र नहीं चाहिए जो अनिवार्यता या मजबूरी के चलते शिक्षित हो। समाज के सचमुच के विकास के लिए इस बात से ज्यादा नुकसानदायक कुछ भी नहीं है कि कोई भी सुधार स्वैच्छिक कोशिशों से हासिल नहीं हो सकता है। इस तरह से प्रशिक्षित किए गए लोग स्वराज के लिए पूरी तरह से अयोग्य होंगे।

'अनिवार्यता' में किसी राज्य के पास जबरदस्ती करने की ताकत है उसका नियंत्रण अंतर्निहित है। गांधीजी बहुधा कहते रहते थे कि वे राज्य की ताकत में किसी भी बढ़ोतरी को 'सबसे ज्यादा आशंका' के साथ देखते हैं। क्या विनोबा का लगातार इस बात पर जोर, कि शिक्षा को राज्य के नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए, गांधीजी की इच्छा को सम्मेलन में औपचारिक तौर पर पारित प्रस्ताव से ज्यादा नहीं झलकाता ? इस पर भी 1937-38 के दौरान बारंबार गांधीजी के खुद के लेखन में राज्य के नियंत्रण के संदर्भ में हम जाहिरा तौर पर मंजूरी पाते हैं : 'राज्य को सात साल की उम्र में बच्चे की जिम्मेदारी ले लेनी चाहिए और उसे कमाऊ सदस्य के तौर पर परिवार को लौटाना चाहिए। वे कहते है कि राज्य अगर विद्यालयों के उत्पादनों को बेचने का जिम्मा ले ले तो उन्हें अपने आप को वित्तीय तौर पर अपने पैरों पर खड़ा हो सकना चाहिए और इस तरह की कई और बातें भी वे कहते हैं। फिर भी दूसरी जगह पर वे जोर देते हैं कि बुनियादी शिक्षा के प्रयोगों को उपयोगी होने के लिए बिना किसी बाहरी दखलंदाजी के स्वतंत्र ढंग से चलाया जाना चाहिए। इन साफ-साफ असंगतताओं की कोई भी व्याख्या हो, यह साफ है कि शिक्षा और राज्य के बीच संबंध एक जीवंत मुद्दा है, जिस पर हमें ज्यादा सावधानी के साथ विचार करना चाहिए।

शिक्षा की मौजूदा व्यवस्था न सिर्फ फिजूलखर्ची वाली है बल्कि सचमुच ही नुकसानदायक भी है। लड़के अपने अभिभावकों से, अपने गांवों से, अपने पारंपरिक कौशलों से बिछुड़ जाते हैं। वे बेचारगी में छोटे–मोटे बाबूगिरी वाले कामों पर निर्भर हो जाते हैं और तो और बुरी आदतें और शहरी नकचढ़ापन अपना लेते हैं और गांव में किए जाने वाले खरे शारीरिक श्रम को, जिन पर हम सभी निर्भर करते हैं, घटिया समझने लगते हैं।

दूसरे मामले भी हमें देर तक रोक नहीं सकते, जे.बी.कृपलानी ने बहुत जल्द ही दूसरे प्रस्ताव के बारे में बतलाया कि बुनियादी शिक्षा में 'शिक्षा का असली माध्यम' तो काम है, भाषा नहीं; मातृ भाषा तो बोलचाल या संप्रेषण का माध्यम है, शिक्षा का नहीं, जिन्होंने विद्यालय कार्यक्रमों के लिए विस्तृत योजनाएं बनाई थीं, उन्होंने इतनी ही जल्द यह भी पहचान लिया कि यहां पर शिक्षा के समृद्ध स्रोत न सिर्फ दस्तकारी के 'वैज्ञानिक' अभ्यास में मौजूद हैं बल्कि बच्चे के नैसर्गिक परिवेश में और उन सामाजिक संबंधों में भी है जिनका कि बच्चा खुद एक हिस्सा है।

पहली फौरी जरूरत इन इंकलाबी विद्यालयों के लिए शिक्षकों के प्रशिक्षण की थी, और अप्रैल, 1938 में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने वर्धा में आर्यनायकम् द्वारा संचालित एक प्रशिक्षण विद्यालय खोला और इसी के नियंत्रण में सेगांव गांव में एक विद्यालय चलाने का निर्णय लिया गया। केन्द्रीय प्रांत की कांग्रेसी सरकार की इसके साथ सक्रिय सहानुभूति थी जिसके लिए गांधीजी ने बहुत ज्यादा अफसोस जाहिर किया, बंद कर दिया गया। जिसका वर्धा जिला एक हिस्सा था ताकि नए प्रयोग को पूरा मौका मिल सके।

वर्धा प्रशिक्षण विद्यालय और सेगांव ग्रामीण विद्यालय ही वे दो विद्यालय थे जिन्हें लेखिका ने दिसंबर 1938 की अपनी पहली यात्रा में बेहद विचारोत्तेजक व प्रेरणादायक पाया। वहां का माहौल अगुआ होने के उत्साह और नई खोज व उपलब्धि की उत्तेजना से भरपूर था। प्रशिक्षण विद्यालय में काम करके देखने के लिए वर्धा में ही एक विद्यालय था, और पहली व दूसरी कक्षा के सात व आठ साल की उम्र के बच्चों द्वारा जुलाई से सितंबर 1938 के दौरान तीन माहों में किए गए दस्तकारी के काम का रिकॉर्ड काफी सावधानी के साथ रखा गया था।

कपड़ा बनाने की दस्तकारी चुनी गई थी, जिसमें शुरुआत तकली कातने से की गई थी, जिसमें आने वाले सालों में कपास उगाने, ओटाने, धुनकने से लेकर धागे को रंगने और आखिर में कपड़ा

बनाने तक के काम के हरेक पहलू को शामिल करने की योजना थी। शुरुआती तीन माहों में तकली केन्द्र में थी। मनहुसियत भरे पूर्वानुमान, कि बच्चे बोझा महसूस करेंगे और ऊब जाएंगे, के उलट उन्होंने इसे एक लुभावने खिलौने के रूप में लिया और पहले और तीसरे महीने के बीच में उत्पादकता में वृद्धि उल्लेखनीय थी, जो जुलाई में 74 लच्छों से बढ़कर सितंबर में 251 लच्छों तक पहुंच गई थी। सितंबर के आखिर तक कुछ बच्चे बढ़िया सूत की 39 पूनिया कात रहे थे जबकि पहले अच्छा औसत 13 था। सबसे धीमी गति एक घंटे में 100 फीट सूत की थी जबकि सबसे तेज गति 500 फीट सूत प्रति घंटा थी और औसत 250 सूत फीट प्रति घंटा था। पूरी तरह से एक साधारण से गांव के विद्यालय के ऐसे बच्चों के समूह से जिन्हें किसी भी आधार पर चुना नहीं गया था हासिल इन नतीजों का इस्तेमाल आम तौर पर जाकिर हुसैन समिति द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम में सुझाए गए उत्पादन के मानदण्डों को जांचने में किया जाता था।

सेगांव विद्यालय ने दूसरे क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय तरक्की हासिल की। जब काम की शुरुआत की गई थी तब गांव का लगभग हरेक बच्चा जुआ खेलता था, जातिगत रवैया बहुत ही तंगनजरिया और भेदभाव वाला था। अपने आसपास और खुद की सफाई को लेकर एक तरह की बेपरवाही थी। कुछ ही महीनों बाद वहां जाने वालों ने सादे लेकिन साफ-सुथरे विद्यालय में दोस्ताना और चाक-चौबंद बच्चे पाए जो शिक्षक और आपस में एक-दूसरे के साथ तत्परता के साथ काम करने को तैयार रहते थे और जिनके पास बाहरी दुनिया से आने वालों से उनकी अपनी दुनिया के बारे में पूछे जाने वाले बुद्धिमत्तापूर्ण सवालों की भरमार होती थी।

इसी बीच इस काम को पूरे भारत भर में फैलाने के लिए बहुत मेहनत की गई थी। एक संस्थागत योजना बनाई गई जिसमें कस्बों या नगरों के बजाय ग्रामीण इलाकों में प्रशिक्षण विद्यालयों को बनाया गया और उनके आसपास के ग्रामीण विद्यालयों के समूह बनाए गए जिससे समूह के लिए शिक्षक उपलब्ध हो पाएं, ताकि कोई भी शिक्षक अपने आपको अकेला और दुनिया से अलग हुआ न महसूस करे; हरेक खुद की पहुंच के भीतर वाले समूह के लिए प्रेरक और मददगार हो पाए। कई प्रांतों की सरकारों ने छोटे या बड़े पैमाने पर इस योजना को अपनाया : बिहार, बंबई, सी. पी. मद्रास, उड़ीसा, उ.प्र. और कश्मीर के 'देशी या मूल राज्य'। शिक्षा के केन्द्रीय सलाहकार मंडल ने इसे एक मान्य शैक्षिक प्रयोग के रूप में मंजूरी दी। तालीमी संघ ने गांधीजी के इस सुझाव का समर्थन किया कि किसी कक्षा में बच्चों की उपयुक्ततम संख्या करीब 25 होनी चाहिए और इस बात पर जोर दिया। इसे 30 से ज्यादा किसी भी हाल में नहीं होना चाहिए (यह किसी भी विद्यालय के लिए बेहद जरूरी पाबंदी या बंदिश है, लेकिन जिसे बिरले ही या बड़ी मुश्किल से ही लागू किया जाता है)। शिक्षकों को पर्याप्त तनख्वाह दी जानी चाहिए और खास तौर पर किसी विद्यालय में दस्तकारी से होने वाली आय और शिक्षकों की तनख्वाह के बीच कोई सीधा रिश्ता नहीं होना चाहिए।

शिक्षा की विषयवस्तु के लिहाज से, बुनियादी दस्तकारी के चुनाव का मार्गनिर्देशन करने वाले सिद्धांतों पर काफी विचार किया गया। उसे शैक्षिक संभावनाओं और सहकारितापूर्ण गतिविधियों की गुंजाइश से भरपूर होना चाहिए। हर काम के लिए योजना और मूल्यांकन को उपयुक्त जगह दी जानी चाहिए। पहल की गुंजाइश जरूर होनी चाहिए। बच्चों को खुद की प्रगति की व्यक्तिगत जिम्मेदारी लेनी चाहिए। जैसे-जैसे वक्त गुजरता गया इस बात पर एक राय होती गई कि इन जरूरी बातों को पूरा करने की कुव्वत सिर्फ उन दस्तकारियों में है जो इंसानी जीवन की बुनियादी जरूरतों से बेहद करीब से जुड़ी हैं- खाने और पहनने की चीजों का उत्पादन और तैयारी, रोजमर्रा की जिंदगी के लिए बरतनों और उपकरणों के लिए मिट्टी और लकड़ी का काम।

बुनियादी दस्तकारी और सभी तरह के सामान्य ज्ञान के लिए माध्यम के रूप में इसके उपयोग के साथ, समिति ने जोर दिया कि हरेक विद्यालय को अपने नियमित पाठ्यक्रम में संगीत और चित्रकला को भी शामिल करना चाहिए। आर्यनायकम् ने अपनी समझ शांतिनिकेतन की परंपरा से हासिल की थी और उसे पाठ्यक्रम के रूप में सूचीबद्ध अपने वहां के दोस्तों की मदद से किया था, जिनमें महान् कलाकार नंदलाल बसु भी शामिल थे। 1939 के पतझड़ तक प्रगति की समीक्षा करने और आगे के कदमों की योजना बनाने के लिए एक राष्ट्रीय स्तर की बैठक की जरूरत महसूस की जाने लगी। उस वक्त तक 247 बुनियादी विद्यालय और 14 प्रशिक्षण विद्यालय नौ प्रांतों और राज्यों में फैले हुए थे। बंबई की सरकार इस काम में सक्रिय भागीदार थी। उसने अक्टूबर, 1939 में कार्यकर्ताओं को बैठक के लिए पूना बुलाया। दूसरा विश्व युद्ध शुरू हो चुका था और राजनैतिक हालात पूरी तरह से अनिश्चित थे, तो भी सम्मेलन ने तय किया कि भविष्य की अनिश्चितता के बावजूद बुनियादी शिक्षा इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसे रोका या बंद नहीं किया जा सकता है। उन्होंने लिखा 'शिक्षा की एक नई विचारधारा, जो न्याय, सहकारितापूर्ण प्रयास, उत्पादक कामों व इंसानियत के लिए सम्मान पर आधारित है, शांति, न्याय और इंसानियत की सबसे ताकतवर गारंटी या जमानत है। किसी भी तरह के राजनैतिक बदलावों के बीच इसे जारी रहना चाहिए'। बच्चों के शरीर, मन और चरित्र में विकास संबंधी रपटें, एक साल से थोड़े से ज्यादा अर्से के बावजूद बहुत हौसला अफजाई करने वाली थीं। जारी रखने का निर्णय पूरी

तरह से उचित था; कांग्रेस सरकारों के इस्तीफे ने मामूली-सा फौरी असर डाला- सिर्फ मद्रास को छोड़कर क्योंकि वहां पर कोयम्बटूर में बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय अप्रैल, 1940 में बंद हो गया था।

डेढ़ साल बाद अप्रैल, 1941 में डॉ. जाकिर हुसैन के बुलावे पर जामिया नगर दिल्ली में दूसरा राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा सम्मेलन हुआ। बुनियादी शिक्षा सम्मेलन में भाग लेने का लेखिका के लिए यह पहला मौका था और बेहद अनूठा भी (शांतिनिकेतन में अपनी ताजातरीन ली गई जिम्मेदारियों को छोड़कर वहां से पूना तक की लंबी व समय खाऊ यात्रा को 1939 में सही नहीं माना गया)।

1941 की बैठक की एक बड़ी खासियत शिक्षा में कलाओं की स्थिति को दी गई जगह और उस पर लगाया गया समय, प्रदर्शन की गुणवत्ता और विमर्शों की व्यापकता और उनकी गहराई था। वक्ताओं ने इस बात पर जोर दिया कि कला के साथ सिर्फ फालतू का-सा या विलासितापूर्ण वस्तु की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए। रचनात्मक उपलब्धियां, उपयोग और सौंदर्य के लिए हाथ से किए गए काम का अभिन्न हिस्सा हैं। रचनात्मक आवेग खुद को, कपड़ा उद्योग में डिजाइनों के पैटर्नों को बनाने में, मटकों को गढ़ने में और घर बनाने में; त्यौहारों को अल्पना, रोशनी, संगीत और नृत्य के साथ मनाने में, सुंदर-सी किताबों को चित्रित करने और उन्हें छापने में, और बच्चों के खिलौनों को सजाने में, अभिव्यक्त करता है। कारीगरी और रचनात्मक एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं।

शिक्षा की विषयवस्तु के लिहाज से, बुनियादी दस्तकारी के चुनाव का मार्गनिर्देशन करने वाले सिद्धांतों पर काफी विचार किया गया। उसे शैक्षिक संभावनाओं और सहकारितापूर्ण गतिविधियों की गुंजाइश से भरपूर होना चाहिए। हर काम के लिए योजना और मूल्यांकन को उपयुक्त जगह दी जानी चाहिए। पहल की गुंजाइश जरूर होनी चाहिए। बच्चों को खुद की प्रगति की व्यक्तिगत जिम्मेदारी लेनी चाहिए।

शिक्षा में काम की जगह के बारे में डॉ. जाकिर हुसैन के विचारपूर्ण उद्बोधन का सम्मेलन में इतना ही उत्कृष्ट योगदान था। उन्होंने कहा, 'काम के अपने आदर्श होते हैं, यह कोई खेल या मनबहलाव नहीं है, यह किसी प्रयोजन से प्रोत्साहित की गई गतिविधि है। इसमें उस प्रयोजन के प्रति पूरी तरह से न्याय करने की तमन्ना होनी चाहिए और इसलिए सामग्री, तरीकों व औजारों के स्वाभाविक अनुशासन को मान लेने की तत्परता होनी चाहिए। यह कठोर आत्मालोचना की मांग करती है, लेकिन इसमें खुशी का वह वादा भी समाया रहता है जिसका कोई सानी नहीं।

'शरीर और दिमाग को शिक्षित करने के लिए काम नियोजित होना चाहिए और सामग्री व औजार तैयार होने चाहिएं। उसे लागू करना और उसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए। नतीजे में कौशल विकसित होते हैं। लेकिन, व्यक्तिगत कौशल ही आखिरी नहीं हैं। यहां तक कि स्व-अनुशासन की नीयत खुदगर्जी की भी हो सकती है। काम को सिर्फ व्यक्तिगत उद्देश्यों को पूरा करने के बजाय ऊंचे मूल्यों की पूर्ति करनी चाहिए। ऐसे मूल्य जिन्हें हम मानते हैं और जिनकी हम इज्जत करते हैं।

'कार्य-विद्यालय सामान्य प्रयोजनों को हासिल करने के लिए एक समाज है। मेहनत-मजदूरी के सहकारितापूर्ण तौर-तरीकों में एक की गलती बाकी का काम भी बिगाड़ सकती है। धीमे चलने वालों को पीछे छोड़कर फुर्तीलों को अकेले आगे बढ़ने की इजाजत नहीं दी जा सकती। यह अपने सदस्यों को क्षमताओं और मिजाजों या मनोदशाओं में फर्क के बावजूद आपस में सहकारिता से काम करना सिखाता है। यह उनको खुद की सामाजिक जिम्मेदारियों को कबूलना सिखाता है लेकिन विद्यालय को व्यक्ति की ही तरह खुद से कुछ जयादा के लिए काम करना चाहिए, नहीं तो सिर्फ व्यक्तिगत लालच के एवज में सामूहिक लालच को रख देगा। विद्यालय के छोटे-से समाज को आसपास के वृहद् समाज की सहायता या पूर्ति करनी चाहिए।

ये सभी बातें आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं, जितनी तब थीं जब वे पहली बार कही गई थीं और वे विचार भी जो जाकिर हुसैन ने सम्मेलन को दिए गए गांधीजी के खास संदेश का अनुसरण करते हुए व्यक्त किए थे। गांधीजी ने लिखा था : 'इस कोशिश की कामयाबी सरकार के बजाय खुद की मदद पर ज्यादा निर्भर करती है। हमारा प्रयोग संपूर्ण होना चाहिए, जिसे कम से कम किसी एक जगह पर बिना किसी मिलावट और बिना बाहरी दखलंदाजी के गढ़ा जाना चाहिए'। जाकिर हुसैन ने इसे लिया और अपने लफ्जों में गांधीजी के इस भरोसे को विकसित किया कि अहिंसा शिक्षा की बुनियाद में होनी चाहिए, जैसे कि बाकी सारी राष्ट्रीय गतिविधियां हैं और इसे हमें इस काबिल बना सकना चाहिए कि हम एक 'अच्छा राज्य' बना सकें, जिसमें सभी को न्याय और बराबर मौकों का अहसास हो।

बड़े ही मार्मिक शब्दों में उन्होंने हमारे समाज को दर्शाया जैसा कि वह था (और है) 'जहां भाई-भाई के खिलाफ खड़ा है, ऐसा कोई गीत नहीं है जिसे सारे संग-संग गा सकें, ऐसी कोई खुशी नहीं है जिसे सारे मिलकर बांट सकें'। उन्होंने श्रोताओं से ऐसे राज्य के लिए काम करने का आह्वान किया 'जहां एक समुदाय दूसरे का भरोसा करता हो; जहां कमजोर को दबंगों के आतंक के साये तले नहीं

जीना पड़े, न ही गरीब को अमीर से अपमान और चोट सहनी पड़े। ऐसा राज्य जहां अलग-अलग संस्कृतियां कंधे से कंधा मिलाकर फल-फूल सकें और हरेक दूसरे के गुणों को आराम से अपने में शामिल कर सके। जहां हरेक नागरिक अपने व्यक्तित्व के संपूर्ण स्रोतों को, अपने स्वभाव में छुपे बेहतरीन गुणों को समाज की सेवा में लगा सकने के काबिल हो सके।'

उन्होंने कहना जारी रखा कि एक, 'अच्छा राज्य, हो सकता है, बहुत दूर का सपना नजर आता हो, लेकिन यह राष्ट्रीय शिक्षा का जिम्मा है कि वह उसके लिए तौर-तरीके तय करे और उसे हासिल करने के लिए आज से ही काम शुरू करे। अगर हम शुरुआत नहीं करते हैं तो जब अच्छे राज्य के लिए काम करने का वक्त आएगा तब हम उसे अज्ञान और अनुभवहीनता के चलते बर्बाद कर देंगे। 'कार्य-विद्यालय' अगुवा बनने का मौका होगा, सबसे अच्छी तरह चलाए जाने वाले राज्य में भी प्रयोग और खोज की गुंजाइश हमेशा रहती है।'

बुनियादी सिद्धांतों की इस प्रस्तुति के अलावा वहां पर अलग-अलग संस्थानों और समूहों के बीच अनुभवों का जोरदार लेन-देन हुआ। बहुतों को संदेह और अदावत का सामना करना पड़ा। अमीरों को इंकलाब की आशंका थी तो गरीब चाहते थे कि उनके बच्चे मवेशियों के रेवड़ चराएं। बहुतों ने गांधी की 'छुआछूत' का तिरस्कार करने की बात को नकार दिया। कुछ सांप्रदायिक संदेह के माहौल में थे।

स्थानीय स्तर पर इनमें से ज्यादातर संदेह धीरे-धीरे दूर हो गए। अभिभावक हर रपट में आने वाली बातों की कीमत पहचानने लगे- बच्चों की शारीरिक तंदुरुस्ती और सामाजिक आत्म-विश्वास, अपने आस-पास के बारे में रुचि और सजगता, घर और गांव दोनों ही जगहों पर मदद करने में तत्परता। ऐसी रपटें हैं जो बुनियादी विद्यालय के बच्चों द्वारा अपने-आप छोटे बच्चों के लिए खेल-केन्द्र चलाए जाने, खुद की पहल से विद्यालय में बाग की शुरुआत करने, विद्यालय की 'दुकानें' और 'बचत खाते' चलाने और कुछ मामलों में विद्यालय में सीखी गई दस्तकारी का घर की आमदनी बढ़ाने में इस्तेमाल किए जाने का वर्णन करती हैं।

ऐसे सवाल भी उठाए गए, जिनका सामना कार्यकर्ताओं को किस्मत से आने वाले कई सालों में सेगांव (अब सेवाग्राम) और बाकी जगहों पर करना था। उनमें से एक, बच्चों द्वारा काते गए सूत को खपाने का था। बुनियादी शिक्षा के कार्यकर्ता गांधीजी का उद्धरण देते हुए कहते थे कि सरकार को यह जिम्मेदारी लेनी चाहिए, लेकिन सूत अपने आप में बाजार में बेची जाने वाली चीज नहीं थी और सरकारें बाबूशाही से त्रस्त थीं, जिन्होंने इनकी मांग कभी सुनी ही नहीं थी और जो इसका सामना करने के प्रति बेहद अनिच्छुक थीं। शिक्षक, जो खुद नौसिखिए थे, जिनमें बहुधा कुशलता की कमी होती, जो बाद में आ पाती थी, वे नौसिखियों के सूत को बुने हुए कपड़ों या आसनों या कूदने की रस्सी या बोर्ड साफ करने के डस्टर या पोंछनी में बदलने की नहीं सोच पाए। उनमें से बहुत-से आजादी के राष्ट्रीय आंदोलन में कताई द्वारा निभाई गई भूमिका से वाकिफ थे और इसे अपने-आप में संतोषप्रद प्रतीकात्मक गतिविधि के रूप में देखते थे। वे इसकी सीमाओं के प्रति नासमझ थे। इसे कपड़ा उद्योग की दस्तकारी से जिसका, ये हिस्सा थी, अलग कर दिए जाने पर इसका मतलब और प्रयोजन गुम हो जाता था।

इसी से बेहद नजदीक से जुड़ा सवाल शिक्षकों की योग्यता और उनके प्रशिक्षण का था। 1941 के सम्मेलन में यह पूछने के लिए आवाजें उठी थीं कि क्या प्रशिक्षण विद्यालयों में 'दस्तकारी' और 'विषय' के शिक्षक अलग-अलग रखे जाने की परंपरा बुनियादी शिक्षा की भावना के अनुकूल है ? जिसका साफ जवाब नहीं में था। तब क्या ? क्या विद्यालयों को प्रशिक्षण में भरती करने के लिए 'मैट्रिक' की मांग करना छोड़ देना चाहिए और इसके बजाय ऐसे उम्मीदवारों को चुना जाए जो अपनी कम से कम दो या तीन साल दस्तकारी के जरिए अपनी आजीविका कमा पाने लायक हों ? बेशक दस्तकार या कारीगर को खुद अपनी दस्तकारी के वैज्ञानिक आधारों या सांस्कृतिक संबंधों का थोड़ा-बहुत ही पता होने की संभावना होती थी, लेकिन वह कम से कम कुशलता और कारीगरी के अच्छे मानदंडों को हासिल कर पाने में कामयाब होता था। उसे व्यापक सामान्य ज्ञान हासिल करने में मदद की जरूरत होती थी। उम्मीदवारों के मैट्रिक पास होने को जरूरी बनाने के पीछे माना यह गया था कि उसके पास सामान्य ज्ञान होगा- ऐसी मान्यता जो शायद ही कभी साबित हो पाई। दुविधा जारी रही; सेवाग्राम में भी बाकी जगहों की तरह माहिर कारीगर शिक्षक थे और दूसरे शिक्षक थे जो दस्तकारी के बारे में थोड़ा जानते थे, लेकिन इतना नहीं जानते थे कि वे उस दस्तकारी से अपनी रोजी-रोटी कमा सकें। फिर भी उनके छात्रों से यह उम्मीद रखी जाती थी कि वे उस पाठ्यक्रम के आखिर में खुद की आजीविका कमाने के काबिल हो जाएंगे।

इसमें अचंभा नहीं होना चाहिए कि 1941 में किताबों की जरूरत पर खूब बहस हुई थी। शिक्षक किताबों की जरूरत महसूस कर रहे थे ताकि वे खुद यह समझ पाने लायक हो सकें कि इंसानी ज्ञान और अनुभव के विभिन्न पहलुओं में छात्रों की रुचि जगाने में कामयाब हो पाने के लिए दस्तकारी का कैसे इस्तेमाल किया जाए। छात्रों को अपनी जागृत रुचि के पीछे पड़ने और उत्सुकता मिटाने में समर्थ होने के लिए किताबों की जरूरत थी। दोनों ही, तकनीकी और सामान्य, तरह की संदर्भ किताबों की जरूरत थी। दोनों को पारंपरिक विद्यालयों के तंग नजरिए से बाहर आने की जरूरत थी, जहां किताबों के नाम पर पाठ्यक्रम तक सीमित सिर्फ 'पाठ्यपुस्तकें'

होती थी। तालीमी संघ के लीडरों का कहना था 'किताबें वहां जीवन और कार्यकलापों की जगह लेने के लिए नहीं हैं, बल्कि भरे-पूरे जीवन और ज्यादा प्रभावी काम करने में मदद करने के लिए हैं। एक अच्छे बुनियादी विद्यालय को बच्चों को यह सिखाना चाहिए कि वे खोज-बीन और खुशी के भाव के साथ कैसे किताबों को काम में लें। दोनों ऐसे छोर हैं जो किताबी मानसिकता ने छीन लिए हैं।

यह वह इलाका था जहां सेवाग्राम कुछ असली कामयाबी हासिल करने का दावा कर सकता था। जैसे-जैसे वह बढ़ा, उसने एक बहुत ही कीमती किताबघर विकसित किया, किताबघर जो सभी उम्र के शिक्षकों और बच्चों द्वारा खोला और काम में लिया जाता था। लेखिका, जिसने बाद के कुछ दिनों में उस किताबघर के खुशनुमा काम का जिम्मा संभाला था, आज भी तीन और चार साल के बच्चों की उन यादों को संजोए है जो संजीदगी के साथ आकर 'पाठक कार्ड' मांगते थे और फर्श पर बैठकर उन सचित्र किताबों का आनंद लेते थे, जो उन्हीं की सहूलियत के लिए निचले खानों में रखी रहती थी। वह उन किशोर-किशोरियों को भी याद कर सकती है, जिन्होंने शुरुआत ही की थी और जो अपनी इच्छा से ऊपरी तौर पर दिलचस्पी लेते हुए अंग्रेजी की किताबों को उठाते थे। हमारे पास बागवानी के अनेक पहलुओं पर अंग्रेजी में व्यावहारिक और सुंदर चित्रों वाली किताबें थीं। वे बैठकर उन किताबों के साथ जूझते थे। यह देखना-जानना विस्मयकारी और दिलचस्प होता था कि वे छात्र इसमें से कितना समझ पाते हैं- न सिर्फ विचारों में, बल्कि बाधाओं को पार करने से पैदा हुए आत्म-विश्वास को हासिल करने में। शिक्षक-प्रशिक्षण की कक्षाओं में बालिग छात्रों, जिनमें से ज्यादातर विद्यालयों के किताबघरों से वाकिफ होते थे, जहां किताबें उनसे अलग तालाबंद आलमारियों में कैद रहती थी, यह जानकर हैरत होती थी कि वे किताबों को खुली आलमारियों में बगैर किसी रुकावट के यों ही सरसरी तौर पर देख सकते हैं उनके लिए किताबघर आम लोगों के भले के लिए आम राय से बनाए गए व अपनी मर्जी से माने गए नियमों और अच्छी तरह से सोचे-समझे ढांचे के अंदर आजादी का एक जीता जागता नमूना होता था। 'खोज का अहसास' और 'खुशी का अहसास' दोनों ही सबूत के तौर पर वहां खूब पाए जाते थे।

कला के साथ सिर्फ फालतू का–सा या विलासितापूर्ण वस्तु की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए। रचनात्मक उपलब्धियां, उपयोग और सौंदर्य के लिए हाथ से किए गए काम का अभिन्न हिस्सा हैं। रचनात्मक आवेग खुद को, कपड़ा उद्योग में डिजाइनों के पैटर्नों को बनाने में, मटकों को गढ़ने में और घर बनाने में; त्यौहारों को अल्पना, रोशनी, संगीत और नृत्य के साथ मनाने में, सुंदर–सी किताबों को चित्रित करने और उन्हें छापने में, और बच्चों के खिलौनों को सजाने में, अभिव्यक्त करता है। कारीगरी और रचनात्मक एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं।

1941 का सम्मेलन जीवंतता और वादों से भरापूरा था। मनोवैज्ञानिक तौर पर इसने आने वाले सालों के दौरान दमदार या मजबूत और जारी रह सकने वाली प्रगति के लिए मंच सजा दिया था, लेकिन तेजी से आगे बढ़ती घटनाओं ने, जो राजनैतिक खलबली की वजह से हुई थी, इसे पीछे छोड़ दिया। उस समय भारत की अंग्रेजी सरकार युद्ध में थी। वह किसी भी तरह के असहयोग और जो उसके प्रति पारंपरिक तरीके से सक्रिय मदद नहीं करता था, शंकालु रहती थी। बुनियादी शिक्षा आंदोलन के लीडर गांधीजी और कांग्रेस के इतने करीब से जुड़े थे कि उनका संदेह से बच पाना मुश्किल था। सम्मेलन के होने से पहले से ही उड़ीसा सरकार बुनियादी शिक्षा विभाग को यह कहते हुए बंद कर चुकी थी कि उसे आगे चलाना 'राज्य के हित में नहीं' है। यह साफ था कि वह राजनैतिक निर्णय था, शैक्षिक फैसला नहीं। यह उड़ीसा में बुनियादी शिक्षा का अंत नहीं था क्योंकि लोगों ने गोपालबंधु चौधरी और उनकी बीबी रमा देवी से प्रेरित होकर इसे आगे जारी रखने के लिए एक स्वतंत्र समिति बना ली थी।

संकट 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के साथ आया। अगस्त की शुरुआत में शिक्षक-प्रशिक्षण कक्षाओं को वर्धा की जगह सेवाग्राम में आरंभ किया गया। उसी समय आनंद निकेतन बुनियादी आवासीय विद्यालय भी वहां खोला गया जो उन राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के बच्चों के लिए स्वर्ग था, जिनके माता-पिता संभावित कैद की अनिश्चितताओं का सामना कर रहे थे। कुछ ही दिनों बाद हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के 21 सदस्यों में से 15 जेल के अंदर थे, जिसमें इसके सचिव ई.डब्ल्यू. आर्यनायकम् भी शामिल थे। सेवाग्राम का विद्यालय बंद नहीं हुआ, लेकिन वह बहुत ही मुश्किल से चालू रह पाया। उन दिनों के छात्रों में से एक आत्माराम याद करते हैं कि कैसे वे और बाकी दूसरे बच्चे सूत, कताई के औजार और किताबें वर्धा जेल में बंद अपने शिक्षकों के पास ले जाते थे। अलगाव भी बहुत ज्यादा था। बुनियादी शिक्षा के केन्द्र पूरे देश में इस तरह फैले थे कि उनका आपस में मेलजोल बनाए रखना लगभग नामुमकिन-सा हो गया था। 1941 के भविष्य में देखने के भरोसे की जगह जिंदा रहने के लिए मनहूस व तन्हा लड़ाई ने ले ली थी।

अगले दो साल अंधेरे के थे, लेकिन गहरे अंधेरे के बाद एक नई सुबह का आगाज होता है। ◆

भाषान्तर : रविकान्त